# प्रतिक्रमण सूत्र : एक विवेचन

श्री सौभाग्यमल जैन

प्रतिक्रमण के विभिन्न पक्षों का इस आलेख में सुन्दर विवेचन है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के वाक्यों को भी उद्धृत करते हुए विवेच्य विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

-सम्पादक

इस क्षणिक देह पर हमारा कितना ममत्व, मूर्च्छा और आसक्ति है? यद्यपि यह शरीर हमें बार-बार मिला है, किन्तु एक बार भी हमारे साथ नहीं रहा है, फिर भी इस संयोगजन्य सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध मानकर हमने इससे राग का सम्बन्ध जोड़ा है और मोह को दृढ़ता दी है। अनन्त काल से प्राप्त अनन्त शरीरों पर अनन्त आसक्तियों का लेप, निर्मल आत्मा पर चढ़ा है, जिससे शुद्ध चैतन्य आत्मा कर्म-लेपों से इतनी आच्छादित है कि वह स्व-स्वरूप से भी अनभिज्ञ है।

पाप कर्म-मल हटाने एवं आत्मा की निर्मलता हेतु प्रत्येक भव्यात्मा को ज्ञान-पिपासु बनकर स्वाध्याय-साधना का अवलम्बन लेकर ज्ञानार्जन एवं तदनुरूप आचरण का सतत प्रयास करना आवश्यक है। ज्ञान, आचरण में आने पर ही प्रायश्चित्त रूप प्रतिक्रमण का स्वरूप समझा जा सकता है, जो आवश्यक है। आवेश, आवेग और अज्ञानता के कारण जीव का स्वस्थान से पर-स्थान पर जाना हो सकता है, किन्तु प्रतिक्रमण द्वारा जीव अपने स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित होता है। प्रतिक्रमण आत्म-साधना है। प्रतिक्रमण रूप आत्म-साधना से भीतर रहे हुए विकार दूर किये जा सकते हैं। सम्यक् ज्ञानी, सम्यग्दर्शी, देशविरति श्रावक एवं सर्वविरति साधु इन चारों को शास्त्रकारों ने एक ही रूप में कहा है। ये चारों आत्म-लक्ष्यी बन कर चलते हैं। इनकी श्रद्धा-प्ररूपणा एक होती है। ज्ञानी का ध्येय होता है कि वह व्रत-चारित्र में कदम बढ़ा कर विषय-वासनाओं से हटे और उत्तरोत्तर साधना में लीन रहे। ज्ञानीजन जहाँ तक बन पड़ता है भूल नहीं करते हैं कदाचित् छद्मस्थता के कारण भूल हो भी जाये तो उसी समय शुद्धीकरण कर लेते हैं, दोषों का परिमार्जन कर लेते हैं। वे शुद्ध भावों से पश्चात्ताप पूर्वक आगामी काल के लिए भूलों को न दोहराने का संकल्प कर लेते हैं। प्रतिक्रमण एक अनुष्ठान है, जिसे कालेकाल नियमपूर्वक साधक आत्माओं द्वारा संपादित किया जाता है।

## आवश्यक सूत्र एवं प्रतिक्रमण सूत्र : परिचयात्मक स्वरूप

जीवन में अनेक आवश्यक कर्म हैं- किन्तु यहाँ आवश्यक से अभिप्रेत लौकिक क्रिया नहीं, अपितु लोकोत्तर क्रिया है। श्रमण या श्रावक के जीवन तथा आवश्यक सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों से यह परिलक्षित होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि यह क्रिया आध्यात्मिक क्रिया है। आवश्यक सूत्र में वर्णित विषय-सामग्री नामकरण की सार्थकता को सिद्ध करती है। इसमें समाविष्ट छहों अध्ययन, साधक के लिए आवश्यक हैं और अवश्य करणीय हैं। आगमों में उल्लेख भी है- ''दिवस तथा रात्रि के अंत में श्रमण और श्रावक द्वारा जो आवश्यक रूप से करने योग्य है उसका नाम आवश्यक है।'' जैसाकि कथन उपलब्ध होता है- ''*समणेणं सावएण य अवस्सं कायव्वयं हवइ जम्हा, अन्तो अहो निसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम।*'' इसी के साथ अनुयोग द्वार में ''*अवश्यं करणात् आवश्यकम्*'' का कथन कर इसी भाव को अभिव्यक्ति दी है। आचार्य मलयगिरि के अनुसार ''*अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभयं कालं क्रियते इति भावे।*'' की अभिव्यंजना द्वारा आवश्यक का भाव स्पष्ट होता है। अतः आवश्यकसूत्र पूर्ण सार्थक एवं यथार्थता लिये हुए है। जीवित रहने के लिए जिस प्रकार श्वास लेना जरूरी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में जीवन की पवित्रता के लिए क्रिया या साधना आवश्यक है, अनिवार्य है। आगम में इसी को 'आवश्यक' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से प्राकृत भाषा के 'आवस्सय' शब्द के संस्कृत भाषा में अनेक रूप बनते हैं, जिनमें कतिपय परिचय में आने वाले शब्द हैं-'आवश्यक', 'आपाश्रय' और 'आवासक'। इनमें से 'आवश्यक' शब्द ही सर्वाधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है। अर्थ के परिचय हेतु पद विश्लेषित करने पर जो रूप स्पष्ट होता है, वह इस प्रकार है- 'आ' भली प्रकार, 'वश्यक' वश किया जाये अर्थात् ज्ञानादि गुण के लिए इन्द्रिय, क्रोधादि कषाय रूप भाव शत्रु जिसके द्वारा वश्य (वश में) किये जायें अथवा पराजित किये जायें, वह आवश्यक है। इस निर्वचन का तात्पर्य आत्मगुणों की अभिवृद्धि तथा आत्मावगुणों का ह्रास होना है।

यह आवश्यक क्रिया-भेद से आवश्यक सूत्र में ६ प्रकार का निर्देशित किया गया है, जो छः अध्ययनों में विभाजित है। १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान। विशिष्ट ज्ञानी-ध्यानी आचार्य भगवंतों ने आवश्यक क्रिया का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कथन किया है कि आवश्यक क्रिया पूर्व से प्राप्त हुई भाव-विशुद्धि से आत्मा को पतित नहीं होने देती, प्राप्त आत्म-गुणों में स्खलना नहीं आने देती, जिससे आत्म-गुणों में अभिवृद्धि की सतत प्रक्रिया प्रवाहमान रहती है। आवश्यक क्रिया के आचरण से जीवन का उत्तरोत्तर विकास वृद्धिंगत होता है, फलस्वरूप साधक-आत्मा का जीवन सद्गुणों से ओत-प्रोत हो आनन्दमय बन जाता है।

## आवश्यक सूत्र में साधना का क्रम

साधना के प्रशस्त मार्ग पर चरण बढ़ाने वाले साधक आत्माओं को अपने इष्ट साध्य की प्राप्ति हेतु तीर्थंकर भगवंतों की आज्ञा का अनुसरण करते हुए श्रुत केवली भगवंतों ने आत्मा की पूर्ण विशुद्धि के लिए आवश्यक सूत्र का छः अध्ययनों में निरूपण किया है। इसमें प्रतिक्रमण का क्रम चतुर्थ है। प्रकारान्तर से क्रम का यही रूप प्रतिक्रमण की साधना-क्रिया में ज्यों का त्यों रहा हुआ है। साधना का यह क्रम पूर्ण वैज्ञानिक है, जो कार्य-कारण भाव की शृंखला पर आधारित है। आत्म-साधना का यह क्रम कितनी सार्थकता लिये हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है- इस संदर्भ में प्रथम सामायिक आवश्यक से छठे प्रत्याख्यान आवश्यक तक का उल्लिखित स्वरूप-परिचय स्पष्ट रूप से संक्षिप्त जानकारी प्रदान कराने वाला है। विस्तार-भय से चौथे आवश्यक प्रतिक्रमण सूत्र को छोड़कर पाँचों आवश्यकों की विवेच्य सामग्री का अति संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

**१. सामायिक सूत्र : प्रथम आवश्यक**

छह आवश्यकों में सामायिक को प्रथम स्थान प्राप्त है। साधक को साधना की पूर्णता के लिए सर्वप्रथम समता की प्राप्ति आवश्यक है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा भी है- "जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं।" समता को जीवन में स्थान दिये बिना जीवन में सद्गुणों की उपलब्धि नहीं हो सकती। अवगुणों के रहते हुए एवं विषम-भावों की उपस्थिति में वीतराग देवों एवं महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन नहीं हो सकता। उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारने के लिए समभावों की उपस्थिति प्रथम आवश्यकता है। सामायिक ही साधक की विशुद्ध साधना होती है। इसमें साधक की चित्तवृत्ति एकदम शांत होने से वह नवीन कर्मों का बंधन नहीं कर निर्जरा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है। सामायिक की महत्ता को आचार्य पूज्यपाद, आचार्य हरिभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, आचार्य मलयगिरि प्रभृति महापुरुषों ने अपने रचित दुर्लभ ग्रंथों में एवं आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य-वृत्ति एवं टीकाओं में यथास्थान, यथावश्यक विशद रूप से विवेचित किया है। आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक को 'चौदह पूर्व का सार' कहा है। सामायिक में सावद्य योगों से निवृत्त रहने का निर्देश किया गया है। कहा भी है- 'समता सर्वभूतेषु, संयमः शुभभावना। आर्त्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्।।' ऐसा होने पर ही साधक किसी आलम्बन का आश्रय ग्रहण करता है, ताकि समभाव में स्थिर होकर साधक, तीर्थंकर देवों की स्तुति कर सके। एतदर्थ षडावश्यक में सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव का स्थान निश्चित किया है, जो आवश्यक सूत्र के द्वितीय अध्ययन एवं प्रतिक्रमण सूत्र के दूसरे आवश्यक के रूप में व्यवहार में प्रयुक्त होता है।

**२. चतुर्विंशतिस्तव : दूसरा आवश्यक**

तीर्थंकर भगवंत त्याग और वैराग्य की दृष्टि से एवं संयम-साधना की दृष्टि से महान् हैं। उनके गुणों का संकीर्तन करने से साधक के हृदय में आध्यात्मिक बल का संचार होता है। आलोचना के क्षेत्र में पहुँचने से पूर्व क्षेत्र विशुद्धि होना आवश्यक है। साधक की साधना के आदर्श तीर्थंकर देव होते हैं। जब उनके आदर्श की प्रतिमूर्ति साधक के चिन्तन में आती है तो उसका अहंकार भाव पलक झपकने के साथ ही विगलित होता दिखाई देता है। तीर्थंकरों के गुणों का संस्तवन करने से हृदय पवित्र होता है, वासनाएँ शांत होती हैं और संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं। तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति के समय उन महान् आत्माओं का उज्ज्वल आदर्श हमारे सामने रहता है। जैसे- भगवान् ऋषभदेव का स्मरण आते ही आदिमयुगीन चित्र हमारे मानस-पटल पर उभरने लगता है। भगवान् शांतिनाथ का जीवन शांति का विशिष्ट प्रतीक है। भगवान् मल्लिनाथ का जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नारी-जीवन के अभ्युत्थान का उत्कृष्ट आदर्श है, भगवान् अरिष्टनेमि करुणा के साक्षात् अवतार के रूप में हमारे आदर्श हैं। भगवान् पार्श्वनाथ का स्मरण हमें तत्कालीन तप-परम्परा का जिसमें ज्ञान-ज्योति का अभाव था, का वीतराग रूप प्रकट करता है एवं भगवान् महावीर का जीवन आर्यों-अनार्यों, देव-दानवों, पशु-पक्षियों द्वारा दिये गये भयंकर उपसर्गों से तनिक भी विचलित नहीं होने देता। समभाव में रहने, जाति-पाँति का खण्डन कर गुणों की महत्ता स्वीकार करते हुए नारी जाति को प्रतिष्ठा प्रदान करने के उनके आदर्श हमारे हृदय-पटल पर उभर कर प्रभावी प्रेरणा प्रदान करते हैं। तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति मानव-मन में अपने पौरुष को जागृत करने की प्रेरणा देती है। वे हमारे साधना-मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ हैं। भगवान् महावीर से उत्तराध्ययनसूत्र में पृच्छा की गई- "चउवीसत्थए णं भंते! जीवे किं जणयइ?" अर्थात् हे भगवन्! चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या फल मिलता है? भगवान् का प्रत्युत्तर था- "चउवीसत्थए णं दंसणविसोहिं जणयइ।" अर्थात् चुतुर्विंशतिस्तव करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। साथ ही उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है और सम्यक्त्व विशुद्ध होता है, उपसर्ग-परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति का विकास होता है तथा तीर्थंकर बनने की पावन-प्रेरणा अंतस् में जागृत होती है।

### ३. वंदन सूत्र : तीसरा आवश्यक

साधना के क्षेत्र में तीर्थंकर भगवंतों के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। तीर्थंकर भगवंत देव होते हैं। देव के बाद गुरु का स्थान आता है। देव और गुरु हमारे लिए वंदनीय एवं पूजनीय हैं। गुरु हमारे अज्ञानांधकार को हटाकर ज्ञान-प्रकाश के प्रदाता हैं, मोक्ष मार्ग के पथ-प्रदर्शक हैं। अतः गुरु को वन्दन किया जाता है, उनका स्तवन और अभिवादन किया जाता है। गुरु सद्गुणी होते हैं, अतः उन्हीं के चरणों में साधक वन्दन करता है। वंदन के द्वारा साधक गुरु के प्रति भक्ति एवं बहुमान प्रकट करता है। वन्दनकर्ता में विनय का गुण होना अपेक्षित है। अविनीत का वंदन सार्थक नहीं होता। वह वन्दन, वन्दन नहीं-औपचारिकता अथवा प्रदर्शनमात्र होता है। जैन दृष्टि से साधक चारित्रवान होना चाहिए। वह द्रव्य-चारित्र और भाव-चारित्र से युक्त हो, यह आवश्यक है। दोनों में से एक का अभाव उसकी अपूर्णता का द्योतक है। साधक को ऐसे गुरु की आवश्यकता है जिसके द्रव्य और भाव दोनों ही चारित्र निर्मल हों। व्यवहार और निश्चय दोनों ही दृष्टियों से जिसके जीवन में पूर्णता हो वही सद्गुरु है और वही वन्दनीय है। ऐसे सद्गुरु से ही साधक प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। वन्दन करने से विनय-गुण की प्राप्ति होती है एवं अहंकार रूपी अवगुण नष्ट होता है। वंदन की उपादेयता के संबंध में प्रभु महावीर के अंतेवासी शिष्य पृच्छा करते हैं- "वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ? अर्थात् हे भगवन्! गुरु महाराज को वंदना करने से जीव को क्या लाभ मिलता है? प्रत्युत्तर में जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया- "वंदणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं णिबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।" अर्थात् वंदना करने से नीच गोत्र-कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म को बाँधता है और अप्रतिहत सौभाग्य तथा सफल आज्ञा के फल को प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साथ ही दाक्षिण्य भाव को प्राप्त करता है अर्थात् वह लोगों का प्रीति-पात्र और मान्य बन जाता है। वन्दन करने से वन्दनीय के प्रति श्रद्धा भाव प्रकट होता है और भक्ति का स्रोत प्रवाहित होता है। अतः साधक को यथासयम जागरूक रहकर वन्दना करना चाहिए। वन्दन करते समय मन में किसी प्रकार की स्वार्थ भावना, आकांक्षा, भय अथवा अनादर की भावना नहीं होनी चाहिए। वंदनीय को ससम्मान मन, वचन और काया के तीन योगों से वन्दन करने की प्रभु ने साधक को आज्ञा फरमाई है।

**४. प्रतिक्रमण सूत्र : चौथा आवश्यक**

**उद्देश्य-** प्रतिक्रमण की साधना का मूल उद्देश्य ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर लगे अतिचारों का शुद्धीकरण करना है। रत्नत्रय का आराधक अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर जाता है, अपनी स्वभाव दशा से निकल कर विभाव दशा में चला जाता है, अतः पुनः स्वभाव रूप सीमा में प्रत्यागमन हेतु भगवान् ने प्रतिक्रमण की व्यवस्था दी है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है- ''शुभयोगेभ्योऽशुभ-योगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।'' अर्थात् शुभ योगों में से अशुभयोगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ में लौटाने के लिए प्रतिक्रमण एक सशक्त माध्यम है।

**नामकरण-** षट् आवश्यकों में चतुर्थ आवश्यक सबसे बड़ा होने के कारण तथा इसका नाम 'प्रतिक्रमण' होने के कारण छहों आवश्यकों की संयुक्त प्रक्रिया को ही प्रतिक्रमण की संज्ञा दी गई है। फलस्वरूप इसे प्रतिक्रमण के नाम से अभिहित किया जाने लगा है। आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति प्रभृति ग्रंथों में प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची नामों का उल्लेख है, जो प्रतिक्रमण के विभिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। वे नाम हैं- १. प्रतिक्रमण २. प्रतिचरणा ३. प्रतिहरणा ४. वारणा ५. निवृत्ति ६. निन्दा ७. गर्हा और ८. शुद्धि। इन आठों का भाव एक ही है। उपर्युक्त शब्द प्रतिक्रमण के सम्पूर्ण अर्थ को समझने में पूर्ण सहायक हैं।

**स्वरूप-** सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं अन्य सभी दृष्टियों से हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों से निवृत्ति ही जीवन-धर्म है। यही संयम है और यही नियम है। उसमें मन, वचन और काया द्वारा स्वयं दोष लगाना, दूसरों से लगवाना तथा दूसरों द्वारा दोष लगाते हुए का अनुमोदन करना उसका (नियम का) अतिक्रमण है। वह अतिक्रमण नियम का दोष है। अतः प्रमाद आदि से हुए पाप की शुद्धि के लिए आलोचना, निंदा, पश्चात्ताप आदि क्रिया प्रतिक्रमण है। इसका स्वरूप व्यापक है- जिसका विवेचन आलेख के विभिन्न संदर्भों में प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप में संपूर्ण लेख पर्यंत विस्तार से उपलब्ध है।

**शाब्दिक अर्थ-** उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ के विवेचन में पूज्य आचार्य भगवन्त श्री हस्तीमल जी म.सा. ने प्रतिक्रमण का अर्थ विवेचित करते हुए फरमाया है- ''ज्ञान, दर्शन, चारित्र में प्रमादवश जो दोष (अतिचार) लगे हों उनके कारण जीव स्वस्थान से पर-स्थान में (संयम से असंयम में) गया हो, उससे प्रतिक्रमण करना (वापस लौटना) उन दोषों (या स्वकृत अशुभ योगों) से निवृत्त होना प्रतिक्रमण है।''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ३६७ में उल्लेख है- "प्रतिक्रम्यते-प्रमादकृतदेवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्।" अर्थात् प्रमाद के कारण देवसिक आदि दोषों को जिसमें निराकृत किया जाता है, वह प्रतिक्रमण है। भगवती आराधना (वि.६/३२/१९) में भी उल्लेख है- "स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्।"

सामान्य रूप में प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ 'पापों से निवृत्त होना' अथवा पापों से पीछे हटना के रूप में सर्वग्राह्य है। आत्मा की वृत्ति जो अशुभ हो चुकी है, उस वृत्ति को शुभ स्थिति में लाना अथवा अतीत के जीवन का प्रामाणिकता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो ऐसा संकल्प करना, प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का शब्द विन्यास की दृष्टि से आचार्यो द्वारा अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, प्रति- प्रतिकूल, क्रम- पद निक्षेप; अर्थात् इसका फलित अर्थ हुआ- "जिन पदों से मर्यादा बाहर गया है, उन्हीं पदों से वापस लौट आना प्रतिक्रमण है।" जैसा कि कहा भी गया है- "स्वस्थानाद् यत्परस्थानं प्रमादस्यवशाद्गतः तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।"

## प्रतिक्रमण क्यों व किसलिए?

मन की छोटी बड़ी सभी विकृतियाँ जो किसी न किसी रूप में पाप की श्रेणी में आती हैं, उनके प्रतिकार के लिए जैन परम्परा में प्रतिक्रमण एक महौषधि स्वीकार की गई है। तन की विकृति जिस प्रकार रोग है, वैसे ही क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियाँ मन एवं आत्मा के रोग हैं। रोग की चिकित्सा भी आवश्यक है- अन्यथा उसके दीर्घगामी दुष्परिणाम भोगने पड़ सकते हैं। अतः प्रतिक्रमण रूपी चिकित्सा के द्वारा मानसिक विकृतियों को तत्काल परिमार्जित कर लेना परमावश्यक कहा है।

प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अवश्य करणीय बताया है। जैसे जल स्नान से शरीर का मैल धुलकर शरीर निर्मल-स्वच्छ बन जाता है उसी प्रकार प्रतिक्रमण करने से आत्मा के साथ लगी हुई पाप-क्रियाओं का कर्म-मल धुल जाता है और आत्मा शुद्ध बन जाती है। विशेष बात यह है कि शरीर-मल तो क्षणिक शरीर-शोभा को विकृत करता है, किन्तु पाप-क्रिया रूप मैल आत्मा को अनंत संसार में भटकाता व दुःखी बनाता है। अतः प्रतिक्रमण इस मैल को धोने का अचूक साधन है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

प्रतिक्रमण पाप के प्रक्षालन की क्रिया होने से यह प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है, जिससे प्रतिदिन जीवन में लगे दोषों की शुद्धि उसी दिन हो जाय। प्रतिक्रमण की नियमित साधना करने से व्रत-पालन में तेजस्विता आती है। पापशल्य व्रत-पालन में अवरोध है। अतः पापशल्य को निकालने हेतु प्रतिक्रमण की साधना अत्यन्त आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये पाँचों भयंकर दोष हैं। साधक प्रातः सायं अपने जीवन का अंतर्निरीक्षण करता है और चिन्तन करता है कि वह सम्यक्त्व के प्रशस्त मार्ग को छोड़कर मिथ्यात्व के ऊबड़-खाबड़ अप्रशस्त-मार्ग में तो नहीं भटका है, व्रत को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्मृत कर अव्रत को ग्रहण करने में तो नहीं लगा है, अप्रमत्तता के स्थान पर प्रमाद का सेवन तो नहीं कर रहा है, अकषाय की शाश्वत आनंददायी स्थिति त्याग कर कषाय-सेवन के भयावह मार्ग को अपनाने में तो नहीं लगा है, योगों की प्रवृत्ति शुभ के स्थान पर अशुभ में तो नहीं चली गई है- और ऐसा हो गया है तो अशुभ को त्याग कर शुभ की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसी भावना को मूर्तरूप प्रदान करने हेतु प्रतिक्रमण की साधना की जाती है।

चरम तीर्थंकर शासनेश प्रभु महावीर की अन्तिम देशना उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ की पृच्छा संख्या ११ में भगवान् के अन्तेवासी शिष्य ने पृच्छा की- ''पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?'' अर्थात् हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है? प्रत्युत्तर में भगवान् ने फरमाया- ''पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयच्छिद्दे पुण जीवे णिरुद्धासवे असबल-चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।'' अर्थात् प्रतिक्रमण करने से साधक व्रतों में बने हुए छिद्रों को बन्द करता है, फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोककर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला होकर, आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटाकर संयम-मार्ग में विचरण करता है।'' प्रतिक्रमण करके साधक पापों से हलका बन कर उच्च गति को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि उत्कृष्ट भावों से किया गया प्रतिक्रमण तीर्थंकर पद प्रदान कर मुक्ति में पहुँचा देता है।

## प्रतिक्रमण एवं उसकी उपादेयता

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का एक श्रेष्ठ उपाय है। आत्म-दोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जल कर नष्ट हो जाते हैं। पापाचरण शल्य के सदृश है- यदि उसे नहीं निकाला गया और मन में ही छिपाकर रखा गया तो उसका विष अंदर ही अंदर बढ़ता चला जायेगा और वह विष साधक के जीवन को बरबाद कर देगा। प्रतिक्रमण में पहले काय-योग की चंचलता रुकती है, इन्द्रियों पर निग्रह बढ़ता है। ध्यान-चिंतन से चित्त एकाग्र बनता है। अभ्यास द्वारा कुशल-साधक कायिक-वाचिक क्रिया को सही रूप में करके मन को स्थिर कर लेते हैं। फिर से पाप न हो, इस दृष्टि से पाप के कारण हटाने या छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। एक से मन की एकाग्रता बढ़ेगी तो दूसरे से पाप से विरति होगी। अतिचार भी नहीं लगते, तथा अतिचार के कारणभूत, साधन, प्रमाद, कषायादि भी घटते हैं। जैसे प्रातः उठकर घर की सफाई करना, उसे साफ-सुथरा रखना सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है उसी तरह अतिचार, अनाचार, ज्ञात-अज्ञात दोषों को साफ करना ज्ञानीजनों का आवश्यक कार्य है। दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है। अतः भगवान् ने उसे अवश्य करने की आज्ञा दी है। सांसारिक प्रवृत्ति करते समय दोष लगना अथवा भूलें होना स्वाभाविक है। इनके भी मुख्य कारणों का उल्लेख शास्त्रों में निरूपित किया गया है, वे हैं- १. अज्ञान जन्य-अज्ञात भूलें २. आवेश पूर्ण भूलें ३. योजनाबद्ध भूलें और ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं चाहते हुए भी होने वाली भूलें। इनमें से चौथे प्रकार की भूलें पूर्वधरों, छद्मस्थ संतों, श्रावकों अथवा किसी भी जीव से हो सकती हैं और होती हैं। भूल करने की भावना नहीं है, फिर भी भूल हो जाती है। उसका 'मिच्छा मि दुक्कडं' या सामान्य 'पश्चात्ताप' के रूप में दोष का परिमार्जन किया जा सकता है। अनजाने में या अज्ञानवश अथवा भोलेपन की भूलें क्षम्य हैं- जैसे बच्चे द्वारा पिताजी की मूँछे खींच लेना, पागल व्यक्ति द्वारा माता को बहिन और पत्नी को माता कह देना, ये अज्ञानजन्य भूलें हैं। कभी नहीं चाहते हुए भी जीव को कष्ट पहुँच सकता है, जीव का अंग-भंग हो सकता है अथवा अंत भी हो सकता है। अनजाने में इस तरह की होने वाली भूलें क्षम्य हैं, जिनका सामान्य पश्चात्ताप से शुद्धीकरण हो सकता है। किन्तु ऐसी भूलों के शुद्धीकरण के लिए भी देवसिक, राइय प्रतिक्रमण आवश्यक है तो फिर आवेग पूर्ण और योजनाबद्ध भूलों के परिमार्जन के लिए तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। जानने के लिए स्वाध्याय की साधना आवश्यक है और आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण।

## प्रतिक्रमण कौन, किसका करे?

आचार्य भद्रबाहु ने साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह प्रतिक्रमण में प्रमुख रूप से चार विषयों पर गहराई से अनुचिन्तन करे- १. श्रमण और श्रावक के लिए क्रमशः महाव्रतों और अणुव्रतों का विधान है। उसमें दोष न लगे, इसके लिए सतत सावधानी आवश्यक है। यद्यपि श्रमण और श्रावक सतत सावधान रहता है, फिर भी कभी-कभी असावधानीवश अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में स्खलना हो गई हो तो श्रमण और श्रावक को उसकी शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिए। २. श्रमण और श्रावकों के लिए एक आचार-संहिता आगमसाहित्य में निरूपित की गई है। श्रमण के लिए स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि अनेक विधान हैं तो श्रावक के लिए भी दैनन्दिन साधना का विधान है। यदि उन विधानों की पालना में स्खलना हो जाये तो उस संबंध में प्रतिक्रमण करना चाहिए। कर्त्तव्यों के प्रति जरा सी असावधानी भी साधक के लिए उचित नहीं है। ३. आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों को प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा सिद्ध करना संभव नहीं है। वे तो आगम आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं। उन अमूर्त तत्त्वों के संबंध में मन में यह सोचना कि वे हैं या नहीं, यदि इस प्रकार मन में अश्रद्धा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शुद्धि के लिए साधक को प्रतिक्रमण करना चाहिए। ४. हिंसा आदि दुष्कृत्य जिनका महान् आत्माओं ने निषेध किया है, साधक उन दुष्कृत्यों का प्रतिपादन न करे। यदि असावधानी वश कभी प्रतिपादन कर दिया हो तो उसकी प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करे और भविष्य में पुनरावर्तन न हो इसका संकल्प करे। जिनका प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, उनका संक्षेप में वर्गीकरण निम्न प्रकार से परिचय हेतु प्रस्तुत है-

१. २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार, १८ पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी साधकों के लिए आवश्यक है।

२. ५ महाव्रत, ३ योगों का असंयम, गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप, मल-मूत्र विसर्जन श्रमण साधकों के लिए है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रतों में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों के लिए है।

सामान्यतया यह भ्रामक धारणा बनी हुई है कि प्रतिक्रमण अतीत काल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। पर आचार्य भद्रबाहु ने बताया कि प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो आलोचना प्रतिक्रमण में की जाती है, वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगे रहने से पापों से निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में साधक प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से भी बच जाता है। अतः साधक के लिए प्रतिदिन उभयकाल का प्रतिक्रमण करना आत्मविशुद्धि की दृष्टि से परमावश्यक है।

## प्रतिक्रमण के भेद-प्रभेद

**(१) दो भेद-** अनुयोगद्वार में आचरण की दृष्टि से प्रतिक्रमण के दो भेदों का उल्लेख है - १. द्रव्य प्रतिक्रमण २. भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण उतना लाभकारी नहीं है जितना भाव प्रतिक्रमण है। पाठों का यंत्रवत् उच्चारण करना, उपयोगपूर्वक और चिन्तनपूर्वक न करना, कीर्ति आदि की कामना से करना, पुनः पुनः स्खलनाओं का पुनरावर्तन करते रहना द्रव्य-प्रतिक्रमण है। उपयोगशून्य होकर पापों की आलोचना करना, पापों के प्रति ग्लानि का अभाव होना केवल शारीरिक व्यापार है, जो विशेष लाभ का कारण नहीं है। क्योंकि वास्तविक दृष्टि से जैसी शुद्धि होनी चाहिए वह द्रव्य प्रतिक्रमण से नहीं हो पाती है।

इसके विपरीत एकांत कर्म-निर्जरा की भावना से संकल्पपूर्वक उपयोग एवं एकाग्रता के साथ किया जाने वाला प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण होता है, जो यथेष्ट साध्य की प्राप्ति में सहायक होता है। उपयोगपूर्वक, एकाग्रचित्त (मन), एकाग्र परिणाम से लोक-परलोक की वासना से रहित; कीर्ति, यश, सम्मान, कर्म-फल आदि की अभिलाषा से रहित तथा निश्चल शरीर से उभयकाल में आवश्यक पाठों का चिन्तन, उनके अर्थों का मनन तथा पूर्वकृत दोषों और आत्म-अवगुणों का अवलोकन करते हुए आलोचना द्वारा शुद्धीकरण की क्रिया भाव-प्रतिक्रमण है। भाव प्रतिक्रमण में साधक के अंतर्मन में पापों के प्रति तीव्र ग्लानि होती है। वह त्रिकरण, त्रियोग से मिथ्यात्व आदि दुर्भावों में गमन करने का त्यागी होता है।

**(२) पाँच भेद-** प्रतिक्रमण के मूलतः ५ भेद बताये गये हैं- १. मिथ्यात्व २. अव्रत ३. प्रमाद ४. कषाय और ५. अशुभ योग। यद्यपि साधक स्वयं ही साधना का दायित्व पूर्ण जागरूकता और निष्ठा के साथ निर्वहन करता हुआ चलता है तथापि उससे प्रमाद, कषायादि नियमों का अतिक्रमण संभव है, क्योंकि वह अपूर्ण है। अतः भूल हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु उस भूल का स्वीकरण और परिहार भी आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होगा तो दोषों का निष्क्रमण नहीं होगा और वे वृद्धिंगत होते रहेंगे। इसलिए प्रातःकाल और सायंकाल गृहीत नियमों (व्रतों) तथा आत्म-प्रवृत्ति में लगे दोषों का चिन्तन, आलोचन तथा निंदा करके उन्हें दूर करते हुए शुद्धीकरण करना साधक का कर्त्तव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**(३) कालापेक्षया तीन भेद-** प्रतिक्रमण के कालापेक्षया ३ भेद हैं- १. अतीत २. वर्तमान ३. भविष्य। इसके अनुसार भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना, वर्तमान में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना एवं प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकना भविष्यकालिक प्रतिक्रमण है।

**(४) विशेष काल की अपेक्षा से पाँच भेद-** विशेष काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के ५ भेद शास्त्रों में बताये गये हैं- १. देवसिक २. रात्रिक ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक। दिन के अंत में सायंकाल के समय प्रतिदिन, दिनभर की पापालोचना करना देवसिक प्रतिक्रमण है। नित्य ही प्रातःकाल के समय में, रात्रि में जो दोष लगे हों, उन पापों की निवृत्ति हेतु रात्रि के अंत में आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। प्रत्येक पक्ष अर्थात् मास में २ बार अमावस्या और पूर्णिमा को अथवा चतुर्दशी को सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों की आलोचना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। चार-चार मास के पश्चात् कार्तिकी, फाल्गुनी, आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीनों में लगे हुए दोषों की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। आषाढी पूर्णिमा से उनपचास या पचासवें दिन, वर्षभर की वार्षिक आलोचना, भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी या पंचमी को सायंकालीन की जाती है, वह सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

कल्पसूत्र में प्रतिक्रमण की साधना को श्रमण-वर्ग के लिए उनके कल्प में समाविष्ट कर उभयकालीन प्रतिक्रमण की साधना पर विशेष बल दिया है।

**(५) छः भेद-** ठाणांग सूत्र ६/५/३७ में प्रतिक्रमण के ६ प्रकार भी प्रतिपादित किये गये हैं। इन प्रतिक्रमणों का मुख्य संबंध श्रमण की जीवन-चर्या से है। उनके नाम हैं- १. उच्चार-प्रतिक्रमण २. प्रस्रवण प्रतिक्रमण ३. इत्वर प्रतिक्रमण ४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण ५. यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण और ६. स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण।

कृत भूल की शुद्धि तथा भविष्य में भूल न करने की प्रतिज्ञा प्रतिक्रमण का रूप है। भूल के लिए मन में पश्चात्ताप, वाणी से स्वीकृति, आलोचना और 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा जाता है, किन्तु केवल 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना मात्र पर्याप्त नहीं, उन भूलों का पुनः पुनरावर्तन नहीं हो, यह अपेक्षित है- अन्यथा भूलों का शुद्धीकरण नहीं होगा।

**५. कायोत्सर्ग : पाँचवाँ आवश्यक**

जैन साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हुआ है। अनुयोग द्वार में इसे 'व्रण चिकित्सा' के नाम से दर्शाया है। साधक के पूर्ण जागरूक रहने पर भी प्रमाद आदि के कारण से साधना में दोष लगना अथवा भूलें हो जाना स्वाभाविक है। अतिचार रूपी घावों को ठीक करने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। संयमरूपी वस्त्र पर अतिचारों का मैल अथवा दाग लग जाता है- जिसे प्रतिक्रमण के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। प्रतिकक्रमण से जो दाग नहीं धुलते अथवा नहीं मिटते उन्हें कायोत्सर्ग के द्वारा हटाया जाता है। कायोत्सर्ग में गहराई से चिन्तन कर उस दोष को नष्ट करने का उपाय किया जाता है। अर्थात् संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, आत्मा को शल्य मुक्त करने के लिए, पाप-कर्मों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग शरीर से ममता घटाने का अमोघ साधन है। कायोत्सर्ग शब्द के विन्यास में यही तो भाव निहित है। कायोत्सर्ग 'काय+उत्सर्ग' दो शब्दों के मेल से बना है। जिसका अर्थ है शरीर से ममत्व का त्याग करना। कायोत्सर्ग में चिन्तन का विषय ग्रंथि भेद एवं भेद विज्ञान होना चाहिए तभी उसका व्यावहारिक रूप, शरीर से ममता कम होने का प्रत्यक्ष दृग्गोचर हो सकता है।

कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि प्राप्त करना है, जो संसार से ममता/ आसक्ति घटने या हटने पर ही संभव है। कायोत्सर्ग की मुद्रा में साधक की शारीरिक स्थिति पूर्ण निश्चल और निष्पंद होती है। साधक आत्माओं ने कायोत्सर्ग की विभिन्न मुद्राओं का निरूपण किया है, जिनमें ३ का उल्लेख ग्रंथों में उपलब्ध होता है। खड़े होकर, बैठकर और लेटकर तीन अवस्थाओं में कायोत्सर्ग किया जा सकता है, किन्तु हमारे यहाँ खड़े होकर कायोत्सर्ग करने की एक विशेष परम्परा रही है, क्योंकि तीर्थंकर भगवंतों ने प्रायः इसी मुद्रा में कायोत्सर्ग किया है। विभिन्न परम्पराओं में आसन, मुद्रा, चिन्तनीय पाठ आदि विषयों को लेकर विविधता रही हुई है। कायोत्सर्ग प्रकरण का क्षेत्र काफी व्यापक है और विवेचन की दृष्टि से विशदता लिए हुए है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के अनेक सुफल बताये हैं, जिनमें कतिपय का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है- १. **देह जाड्य बुद्धि-** श्लेष्म आदि से देह आने वाली जड़ता समाप्त होना। २. **मति जाड्य बुद्धि-** बौद्धिक जड़ता समाप्त होना ३. **सुख-दुःख तितिक्षा-** सुख-दुःख सहन करने की क्षमता प्राप्त होना। ४. **अनुप्रेक्षा-** भावना का स्थिरता पूर्वक अभ्यास ५. **ध्यान-** शुभ ध्यान का सहज अभ्यास होना।

कायोत्सर्ग में शारीरिक चंचलता के विसर्जन के साथ ही शारीरिक ममत्व का भी विसर्जन होता है, जिससे शरीर और मन में तनाव उत्पन्न नहीं होता। मन-मस्तिष्क और शरीर का गहरा संबंध होने से स्वास्थ्य-दृष्टि से भी कायोत्सर्ग का अत्यधिक महत्त्व है। कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण के पश्चात् आती है। प्रतिक्रमण में पापों की आलोचना हो जाने से चित्त पूर्ण रूप से निर्मल बन जाता है। प्रवचनसारोद्धार प्रभृति ग्रंथों में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं- जिनसे कायोत्सर्ग के साधक को बचने का निर्देश किया है। कायोत्सर्ग ध्यान-साधना का ही एक प्रकार बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में कहा है- ''काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं'' अर्थात् कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है। षडावश्यक में जो कायोत्सर्ग है, उसमें चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान किया जाता है।

## प्रत्याख्यान : छठा आवश्यक

प्रत्याख्यान का अर्थ है- त्याग करना। भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरु साक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान शब्द की रचना प्रति+आ+आख्यान, इन तीनों के संयोग से हुई है। जिसका भावार्थ है- ''भविष्यकाल के प्रति आ मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।'' इस विराट विश्व में पदार्थों का इतना आधिक्य है कि जिसकी गणना करना संभव नहीं। मानव की इच्छाएँ असीम हैं। वह सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुओं को पाना चाहता है। वे इच्छाएँ सतत वृद्धिंगत होती रहने से मानव के अंतस् में सदा अशांति बनी रहती है। इस अशांति को मिटाने का एकमात्र उपाय ज्ञानीजनों ने प्रत्याख्यान बताया है। साधक प्रत्याख्यान ग्रहण कर, अशांति का जो मूल कारण आसक्ति और तृष्णा है उसे नष्ट करता है। आसक्ति के बने रहने तक शांति उपलब्ध होना कदापि संभव नहीं है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है- उसे यथावत् बनाये रखने के लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है।

अनुयोगद्वारसूत्र में प्रत्याख्यान का एक नाम 'गुणधारण' दिया हुआ है, जिसका आशय है व्रतरूपी गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान द्वारा मन, वचन और काया के योगों को रोककर शुभ योगों में प्रवृत्ति कराई जाती है- जिससे इच्छाओं पर अंकुश लगता है। इससे तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं, परिणामस्वरूप अनेक सद्गुणों की उपलब्धि होती है। आचार्य भद्रबाहु ने इस संदर्भ में कहा है- ''पच्चक्खाणंमि कए आसवदाराइं हुंति पिहियाइं, आसववुच्छेएणं तण्हा वुच्छेयणं होइ।'' अर्थात् प्रत्याख्यान से संयम होता है, संयम से आस्रव का निरोध होता है, आस्रव निरोध से तृष्णा का अंत हो जाता है। तृष्णा के अंत से अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है। उपशम भाव की विशुद्धि से चारित्र धर्म प्रकट होता है, चारित्र से कर्म निर्जीर्ण होते हैं, उससे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होता है। जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। साधना के क्षेत्र में प्रत्याख्यान का विशिष्ट महत्त्व रहा है। षडावश्यक में प्रत्याख्यान को सुमेरु के शीर्ष स्थान पर कहा है। प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती है। श्रमणों और श्रमणोपासकों दोनों के लिए १० प्रकार के प्रत्याख्यान का विधान किया है, जो अग्रांकित हैं-

१. **अनागत**- नियत समय से पहले तप करना। २. **अतिक्रान्त**- नियत समय के बाद तप करना। ३. **नियंत्रित**- संकल्पित तप का परित्याग न करना। ४. **कोटि सहित**- जिस कोटि से तप प्रारंभ किया, उसी से समाप्त करना। ५. **साकार**- जिसमें आगार रखे जाते हैं। ६. **अनाकार**- जिस तप में आगार न रखे जायें। ७. **परिमाणकृत**- जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय। ८. **निरवशेष**- अशनादि का सर्वथा त्याग हो। ९. **संकेत**- जिसमें संकेत हो (मुट्ठी आदि खोलने का)। १०. **अद्धा प्रत्याख्यान**- काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। छठे आवश्यक प्रत्याख्यान में नवीन बँधने वाले कर्मों के निरोध का वर्णन है। प्रत्याख्यान भविष्यकालिक पापों का निरोधक है, अतएव प्रतिक्रमण में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

## उपसंहार

इस प्रकार उपर्युक्त समग्र विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'प्रतिक्रमण' जैन साधना का प्राण तत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। लघुशंका एवं शौच निवृत्ति करते समय, श्रमण द्वारा प्रतिलेखना करते समय, भिक्षाचरी हेतु इधर-उधर गमनागमन करते समय स्खलना होना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाभाविक है- साधक को उक्त क्रियाओं के द्वारा होने वाली स्खलनाओं के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए। स्खलनाओं के प्रति तनिक भी उपेक्षा न रखकर उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करने की भगवान् की आज्ञा है। प्रतिक्रमण अवश्यकरणीय है। ज्ञानीजनों ने इसे जीवन को परिमार्जित करने की अपूर्व क्रिया बताई है। इस क्रिया को अपनाते हुए साधक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है। प्रतिक्रमण की क्रिया करते हुए साधक के मन, वचन और काया में एकरूपता होना आवश्यक है। साधक व्यावहारिक जीवन जीते समय अथवा साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से साधना च्युत हो सकता है, भूल हो सकती है। ऐसी स्थिति में वह प्रतिक्रमण करे। प्रतिक्रमण के समय जीवन का गंभीरता से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करने का प्रयास करे। साधक प्रतिक्रमण में प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए, दृष्टिगोचर हुए दोषों को सद्गुरु के समक्ष अथवा भगवान् की साक्षी से व्यक्त कर हल्का बना सकता है।

प्रतिक्रमण को साधक की दैनन्दिनी बताते हुए ज्ञानीजन फरमाते हैं कि साधक उसमें अपने दोषों की सूची अंकित कर दोषों से मुक्त होने की प्रक्रिया अपनाता है। कई साधकों ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा है, ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं। प्रतिक्रमण आध्यात्मिक जीवन की धुरी है और जीवन सुधार का उत्तम उपक्रम है। आत्म-दोषों को देखकर आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होती है, और पश्चात्ताप ही एक ऐसी अग्नि है जिसमें सभी दोष जलकर समाप्त हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची शब्दों में 'निन्दा' और 'गर्हा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दूसरों की निन्दा से कर्म-बंधन होता है और स्व-निन्दा से कर्मों की निर्जरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में अनेक दुर्गुण दिखाई दे जाते हैं। साधक गुणग्राही होता है, दुर्गुणों को वह अपने जीवन में से धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करता है और सद्गुणों को ग्रहण करता है।

*-सेवानिवृत्त, हिन्दी व्याख्याता, राज. सी.सै. स्कूल के पास*
*अलीगढ़, जिला-टोंक (राजस्थान)*

Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org